भारतीय ज्ञान प्रणाली उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान प्रणाली उद्गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
Books n Books
51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001
ई-मेल : bnbajmer@gmail.com
मो. 9660111549

संस्करण
प्रथम 2026

ISBN : 978-81-993854-1-2

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान प्रणाली-उद्गम और विकास

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

आवरण - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

14

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिल्प रस

उमेश कुमार
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय परम्परा में 'शिल्प' शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है और समय के साथ-साथ इसके अर्थ में निरन्तर विस्तार तथा परिष्कार होता रहा है। आरम्भ में शिल्प का आशय सामान्यत: कलाकौशल से था, किन्तु आगे चलकर इसमें सांस्कृतिक, सौन्दर्यात्मक और तकनीकी सभी पक्ष समाहित होते चले गये। इस प्रकार शिल्प केवल हाथ से किए जाने वाले किसी कर्म का नाम नहीं रहा, बल्कि वह मनुष्य की सृजनशील चेतना का मूर्त रूप बन गया।

वैदिक साहित्य में ही शिल्प की संकल्पना के बीज स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में शिल्प शब्द का प्रयोग कलाकौशल के अर्थ में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में इस शब्द को और अधिक गहराई दी गई है। वहाँ यह कहा गया है कि जैसे शिल्प के द्वारा पत्थर की कठोर शिला से सुन्दर मूर्ति का निर्माण किया जाता है, वैसे ही संस्कृति के माध्यम से पशु प्रवृत्ति वाले मनुष्य को सुसंस्कृत मानव बनाया जाता है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिल्प केवल भौतिक कला नहीं है, बल्कि वह संस्कृति और संस्कार की भी अभिव्यक्ति है। इसी कारण शिल्प को कला और संस्कृति दोनों का द्योतक माना गया है। शतपथ ब्राह्मण में शिल्प का प्रयोग स्थापत्य और अन्य ललित कलाओं के सन्दर्भ में भी हुआ है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस समय तक शिल्प का क्षेत्र काफी व्यापक माना जाने लगा था।

भारतीय ललित कलाओं के इतिहास में नाट्यशास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भरतमुनि द्वारा संकलित नाट्यशास्त्र में शिल्प शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया गया है। भरत के अनुसार ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या या कला नहीं है, जो नाट्य में अभिव्यक्त न हो सके। उन्होंने यह भी कहा कि नाट्य में समस्त शास्त्र, शिल्प, विविध कर्म और कलाएँ समाहित हैं। इस प्रकार भरतमुनि ने शिल्प को सभी दृश्य एवं श्रव्य ललित कलाओं के समकक्ष स्थापित कर दिया। व्याख्याकारों

ने इस व्यापक अर्थ में माला गूँथने, खिलौने बनाने, रंग करने, लिखने आदि साधारण कला-कर्मों को भी शिल्प की परिधि में सम्मिलित कर लिया। भरत ने शिल्प की अनन्तता पर बल देते हुए कहा कि शिल्पों का कोई अन्त नहीं है। अभिनवगुप्त ने इसकी व्याख्या करते हुए चित्र, मूर्ति, आलेख्य, लेखन और रंगाई जैसे समस्त सृजनात्मक कर्मों को शिल्प के अन्तर्गत रखा और यह प्रतिपादित किया कि शिल्प अपनी प्रकृति से ही अनन्त है।

इन विवेचनाओं से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि शिल्प ललित कला का ही एक व्यापक रूप है, परन्तु इसके अन्तर्गत कौन-कौन सी विशिष्ट कलाएँ आती हैं, इस विषय में आचार्यों ने प्रारम्भिक काल में कोई निश्चित सीमा निर्धारित नहीं की। गुप्तकाल में इस अवधारणा को और अधिक व्यवस्थित रूप मिलने लगा। वराहमिहिर के बृहत्संहिता में शिल्प और शिल्पी शब्दों का प्रयोग हुआ है। भट्टोत्पल ने इस ग्रन्थ की टीका में शिल्प को व्यवहारिक कलाओं, जैसे काष्ठ-कर्म, लौह-कर्म और मूर्तिकला आदि के अर्थ में ग्रहण किया है। उन्होंने शिल्पी को चित्रकार, लेखक और अन्य ललित कलाकारों की श्रेणी में रखा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुप्तकाल तक शिल्प का सम्बन्ध केवल यांत्रिक या उपयोगी कर्मों से ही नहीं, बल्कि सौन्दर्यपरक कलाओं से भी जोड़ दिया गया था।

इसी काल में वात्स्यायन के कामसूत्र में भी शिल्प शब्द का प्रयोग कलाओं के अर्थ में हुआ है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक शिल्प शब्द का प्रयोग विविध कला-कर्मों और ललित कलाओं, दोनों के लिए समान रूप से किया जाता था। आगे चलकर यह परिभाषा धीरे-धीरे अधिक स्पष्ट और निश्चित होती चली गई।

सातवीं-आठवीं शताब्दी के ग्रन्थ शुक्रनीति में शिल्प और शिल्पशास्त्र की एक अत्यन्त परिष्कृत और सारगर्भित परिभाषा प्रस्तुत की गई है। इसके अनुसार जिस शास्त्र में महलों, मन्दिरों, देवताओं की प्रतिमाओं, उद्यानों, गृहों, बावड़ियों आदि के सुन्दर निर्माण, संस्कार और अलंकरण की विधियाँ वर्णित हों, उसे शिल्पशास्त्र कहा जाता है। इस परिभाषा के अनुसार शिल्प के अन्तर्गत स्थापत्य, मूर्ति एवं प्रतिमा निर्माण तथा अलंकरण से सम्बन्धित चित्र और आलेख्य कलाएँ स्पष्ट रूप से सम्मिलित हो जाती हैं। यहाँ शिल्प को सौन्दर्य, उपयोगिता और विधि—इन तीनों का समन्वय माना गया है।

संस्कृत कोष-ग्रन्थों में भी शिल्प की अवधारणा पर प्रकाश पड़ता है। अमरकोष में शिल्प को खम्भे, प्रतिमा आदि बनाने की कला के रूप में परिभाषित किया गया

है। यद्यपि व्याख्याकारों ने इसमें गीत और नृत्य जैसी कलाओं को भी जोड़ दिया है, परन्तु मूल सूत्र से स्पष्ट होता है कि अमरकोष में शिल्प का मुख्य आशय स्थापत्य और मूर्तिकला से है। हलायुध के कोष में शिल्प की अलग से व्याख्या नहीं मिलती और हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि कोष में शिल्प को केवल कला और विज्ञान के समानार्थक रूप में ग्रहण किया गया है।

व्युत्पत्तिशास्त्रीय दृष्टि से भी शिल्प शब्द का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार 'कल्प' काल की एक इकाई है, उसी प्रकार 'शिला' से 'शिल्प' शब्द की उत्पत्ति मानी जाती है। शिला से सम्बन्धित निर्माण-कर्म, रूपांकन और संस्कार की प्रक्रिया को शिल्प कहा गया। इस प्रकार शिल्प का मूल अर्थ शिला से आरम्भ होकर व्यापक सृजनात्मक कर्म तक विकसित हुआ।

शिल्प से तात्पर्य मूलतः शिला अर्थात् पत्थर से सम्बन्धित उन कलाओं से है जो ललित भी हों और दृश्य भी। भारतीय शास्त्रीय परम्परा में शिल्प का क्षेत्र स्पष्ट रूप से दृश्य कलाओं तक सीमित माना गया है। इसी कारण नाट्य, गीत, संगीत और नृत्य जैसी कलाएँ, जो प्रधानतः श्रव्य या श्रव्य-दृश्य होते हुए भी कृत अर्थात् प्रस्तुति-प्रधान हैं, शिल्प की कोटि में नहीं आतीं। ये कलाएँ ललित अवश्य हैं, परन्तु उनका आधार शिला या भौतिक रूप-निर्माण नहीं, बल्कि ध्वनि, गति और अभिनय है। इस भेद को स्पष्ट करने में शुक्रनीति की परिभाषा अत्यन्त निर्णायक मानी जाती है, क्योंकि उसमें शिल्प के स्वरूप और उसकी सीमा को स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया है।

शुक्रनीति के अनुसार शिल्प के अन्तर्गत केवल वे कलाएँ आती हैं जिनमें निर्माण, आकार, रूप और दृश्य सौन्दर्य का प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से शिल्प का पहला और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षेत्र स्थापत्य एवं वास्तु है। स्थापत्य का तात्पर्य भवन-निर्माण की कला से है, जिसमें गृह, प्रासाद, मन्दिर, सभागृह, उद्यान, जलाशय आदि का निर्माण किया जाता है। जब इसी निर्माण-कला का नियमबद्ध, माप-प्रमाणयुक्त और शास्त्रीय विवेचन किया जाता है, तब वह वास्तु-विद्या कहलाती है। वास्तु केवल उपयोगिता तक सीमित नहीं रहती, बल्कि उसमें सौन्दर्य, अनुपात, दिशा, प्रकाश और वातावरण का भी समन्वय किया जाता है, जिससे भवन केवल रहने या उपयोग का स्थान न होकर कला का सजीव रूप बन जाता है।

शिल्प का दूसरा प्रमुख क्षेत्र मूर्ति और प्रतिमा से सम्बन्धित है। सामान्य रूप से धातु, काष्ठ, मिट्टी अथवा पाषाण में पशु, पक्षी और मनुष्य की आकृति का निर्माण मूर्ति कहलाता है। यह मूर्ति किसी भी जीव या वस्तु की अनुकृति हो सकती है।

किन्तु जब यही निर्माण देवताओं के सन्दर्भ में किया जाता है और उसमें शास्त्रों द्वारा निर्धारित लक्षणों, आयुधों, आभूषणों, अंग-प्रत्यंगों, मुद्राओं तथा मान-प्रमाणों का पूर्ण पालन किया जाता है, तब वह प्रतिमा कहलाती है। इस प्रकार मूर्ति और प्रतिमा में मूल अन्तर यह है कि प्रतिमा केवल कलात्मक रूप नहीं, बल्कि धार्मिक और सांकेतिक अर्थों से भी युक्त होती है। प्रतिमा-निर्माण में शिल्पी की कलात्मक क्षमता के साथ-साथ शास्त्रीय ज्ञान और आध्यात्मिक दृष्टि का भी समन्वय अपेक्षित होता है।

शिल्प का तीसरा क्षेत्र चित्र एवं आलेख्य से सम्बन्धित है। शास्त्रीय दृष्टि से चित्र का वास्तविक अर्थ केवल दीवार या कागज पर बनाई गई आकृति तक सीमित नहीं है, बल्कि किसी भी प्रकार की कलाकृति चित्र की कोटि में आ सकती है। इस व्यापक अर्थ में मूर्ति भी चित्र कही जा सकती है, क्योंकि वह भी रूप-निर्माण की ही एक विधा है। किन्तु व्यवहार और प्रचलित अर्थ में जब हम दीवार, कपड़े, पट या कागज की लम्बाई और चौड़ाई में विविध रंगों के माध्यम से किसी दृश्य या भाव की सृष्टि करते हैं, तो उसे आलेख्य कहा जाता है। आधुनिक प्रयोग में इसी आलेख्य को सामान्यत: चित्रकला कहा जाने लगा है। इस प्रकार चित्र और आलेख्य शिल्प की वह शाखा है, जिसमें रेखा, रंग और सतह के माध्यम से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है।

यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि भारतीय शिल्प-परम्परा के सभी प्रामाणिक ग्रन्थों में स्थापत्य, मूर्ति-प्रतिमा और चित्र-आलेख्य—इन तीनों विषयों का साथ-साथ और समन्वित रूप में विवेचन किया गया है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड में इन तीनों कलाओं का क्रमबद्ध वर्णन मिलता है। इसी परम्परा को आगे समराङ्गण सूत्रधार में विस्तार दिया गया, जहाँ स्थापत्य और मूर्तिकला के साथ चित्रकला के सिद्धान्तों का भी विवेचन है। अपराजित पृच्छा और काश्यप-शिल्प जैसे ग्रन्थों में भी यही परम्परा दिखाई देती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय शिल्प-दृष्टि में ये तीनों कलाएँ परस्पर सम्बद्ध और अविभाज्य मानी गई हैं। इस प्रकार शिल्प का स्वरूप न तो बिखरा हुआ है और न ही अनिश्चित, बल्कि वह एक सुव्यवस्थित, शास्त्रीय और सुसंगठित कला-परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

'चित्र', 'अर्धचित्र' एवं 'चित्राभास' :

प्रचलित अर्थ में 'चित्र' को केवल कागज या दीवार पर बनी रंगीन आकृति माना जाता है, किन्तु शास्त्रीय परम्परा में इसकी अवधारणा कहीं अधिक व्यापक है। भारतीय शास्त्रों में 'चित्र' केवल दृश्य-रूप नहीं, बल्कि लय, ताल, छन्द, रूप और

रस से युक्त सृजनात्मक अभिव्यक्ति का नाम है।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने 'चित्र' की व्याख्या नाट्य और नृत्त के सन्दर्भ में की है। केवल संवाद-प्रधान नाट्य, जिसमें नृत्त के करण और अंगहार न हों, 'शुद्ध पूर्वरंग' कहलाता है। जब उसी में करण और अंगहारों का समावेश कर दिया जाता है, तब वह 'चित्र-पूर्वरंग' बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय अर्थ में 'चित्र' वह कला है जिसमें गति, लय और भाव के माध्यम से रस की निष्पत्ति होती है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण के 'चित्रसूत्र' में भी 'चित्र' की अवधारणा को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है। नारायण मुनि द्वारा सुगन्धित आम्ररस से भूमि पर बनाई गई उर्वशी की सजीव आकृति को 'चित्र' कहा गया है। यहाँ चित्र केवल आकृति नहीं, बल्कि त्रैलोक्य की अनुकृति और सौन्दर्य का सजीव रूप है। इसी कारण कहा गया है कि जैसे नृत्त में, वैसे ही चित्र में भी सम्पूर्ण जगत् की अनुकृति निहित होती है।

नृत्त और चित्र—इन दोनों कलाओं को शास्त्रों ने परस्पर गहराई से सम्बद्ध माना है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में स्पष्ट कहा गया है कि नृत्त और चित्र, दोनों में ही त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। अर्थात् ये कलाएँ केवल किसी एक दृश्य या वस्तु की नकल नहीं करतीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत्-स्थावर और जङ्गम, चर और अचर—की कलात्मक पुनराभिव्यक्ति करती हैं। इसी कारण इन दोनों का मूल तत्त्व 'जगतोऽनुक्रिया' बताया गया है। इसका साधारण अर्थ यह है कि संसार की समग्र सृष्टि को सौन्दर्ययुक्त रूप में अनुभव करना और उसे कला के माध्यम से व्यक्त करना ही चित्र और नृत्त का वास्तविक रहस्य है।

अपराजित पृच्छा में भुवनदेवाचार्य और विश्वकर्मा के संवाद के माध्यम से इस विचार को और अधिक विस्तार दिया गया है। विश्वकर्मा बताते हैं कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य—देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, रंग, शरीर के अंग, समय की इकाइयाँ, यहाँ तक कि सृष्टि, काल और ब्रह्माण्ड—सब कुछ चित्रमूल से उत्पन्न है। उनके अनुसार संसार का प्रत्येक रूप, प्रत्येक गति और प्रत्येक परिवर्तन मूलतः चित्रस्वरूप है। जो ज्ञानी ब्रह्मदृष्टि से देखता है, उसे यह सम्पूर्ण विश्व चित्रमय प्रतीत होता है, जैसे जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब।

शास्त्रीय दृष्टि से 'चित्र' केवल रेखा और रंग की रचना नहीं, बल्कि सम्पूर्ण त्रैलोक्य की मूल चेतना है। ग्रन्थों के अनुसार चर-अचर संसार—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देव-दानव, सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, वृक्ष-लताएँ, मनुष्य, पशु-पक्षी तथा चौरासी

लाख योनियों के समस्त जीव—सबका मूल 'चित्र' ही है। श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्ण, शरीर के नख-केश आदि, काल की सभी इकाइयाँ—निमेष से युग और कल्प तक—सब चित्ररूप माने गए हैं। इस प्रकार सृष्टि का प्रत्येक रूप, गति और परिवर्तन चित्र से ही उत्पन्न और उसी में निहित है।

ब्रह्मदृष्टि वाले ज्ञानी सम्पूर्ण संसार को आत्मस्वरूप देखते हैं। जैसे जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा के माध्यम से मूल चन्द्रमा का बोध होता है, वैसे ही यह समस्त जगत् ब्रह्म का चित्र है। शिव-शक्ति का जो स्वरूप सृष्टि के रूप में प्रकट हुआ है, वही चित्ररूप है; दिन-रात, काल-चक्र और सृष्टि-प्रक्रिया सब उसी के विस्तार हैं। इस दृष्टि से चित्र संसार का चेतन तत्त है—जैसे कुएँ और जल का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध होता है, वैसे ही विश्व और चित्र एक-दूसरे के बिना असंभव हैं।

यह विवेचन अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन करते हुए ललित कलाओं में चित्र के दार्शनिक आधार को भी स्पष्ट करता है। स्थूल संसार का सूक्ष्म, चेतन और लयात्मक रूप ही 'चित्र' है। सृष्टि में जो लय, ताल और छन्द विद्यमान हैं, उनकी कलात्मक पुनराभिव्यक्ति ही ललित कलाओं का लक्ष्य है। यही नाट्यशास्त्र में शुद्ध पूर्वरंग से चित्र-पूर्वरंग में रूपान्तरण का तात्पर्य है और यही विष्णुधर्मोत्तर पुराण में वर्णित 'जगतोऽनुक्रिया' तथा 'त्रैलोक्य-अनुकृति' का मर्म है। इस दार्शनिक अर्थ की निरन्तरता का प्रमाण यह है कि बारहवीं शताब्दी की अपराजित-पृच्छा में भी चित्र को इसी व्यापक और विश्वासपूर्ण दृष्टि से समझाया गया है।

यह विवेचन 'चित्र' की सैद्धान्तिक-दार्शनिक अवधारणा के साथ-साथ उसके व्यवहारिक और मूर्त अर्थ को भी स्पष्ट करता है। कोष-ग्रन्थों और शिल्प-शास्त्रों में 'चित्र' का अर्थ केवल अमूर्त कल्पना नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देने वाली कलाकृति से भी जोड़ा गया है। अमरकोष के अनुसार दीवार आदि पर विविध रंगों से बनाई गई आश्चर्यजनक कृति 'चित्र' कहलाती है। इसी कारण विस्मय, अद्भुत और आश्चर्य को भी 'चित्र' का पर्याय माना गया है। हेमचन्द्र और हलायुध जैसे कोशकारों ने भी 'चित्र' को आलेख्य, विविध वर्णों और कलाकार की चेतन कल्पना से जोड़ते हुए इसका सम्बन्ध विस्मय और सौन्दर्य से बताया है।

शिल्प-ग्रन्थों में यह अर्थ और अधिक स्पष्ट तथा व्यवस्थित हो जाता है। दक्षिण भारतीय शिल्प-ग्रन्थ 'मानसार' में प्रतिमाओं के सन्दर्भ में 'चित्र', 'अर्धचित्र' और 'चित्राभास' का भेद किया गया है। जिस प्रतिमा के सभी अवयव पूर्ण रूप से दिखाई देते हैं, वह 'चित्र' कहलाती है। जो प्रतिमा दीवार से जुड़ी हो और जिसके केवल आधे अवयव दिखाई दें, वह 'अर्धचित्र' कही जाती है। और जो आकृति

दीवार, पट या कपड़े पर रंगों द्वारा बनाई जाए, उसे 'चित्राभास' कहा गया है। बुद्ध और देवप्रतिमाओं के सन्दर्भ में भी स्पष्ट किया गया है कि चित्राभास पट या भित्ति पर रंगों से बनाया जाता है।

इसी परम्परा को 'काश्यप-शिल्प' और 16वीं शताब्दी के 'शिल्प-रत्न' ग्रन्थ में आगे बढ़ाया गया है। इनमें भी 'चित्र' को सर्वाङ्ग प्रतिमा, 'अर्धचित्र' को दीवार से संलग्न अर्धप्रतिमा और 'चित्राभास' को रंगों से बना आलेख्य बताया गया है। शिल्प-रत्न में यह भी स्पष्ट किया गया है कि चित्र और अर्धचित्र पत्थर, लकड़ी, मिट्टी या धातु से बनते हैं, जबकि चित्राभास चिकनी दीवार या पट पर केवल लम्बाई-चौड़ाई में, बिना उभार के बनाया जाता है।

निष्कर्षतः इस समग्र विवेचन का सार यह है कि भारतीय परम्परा में चित्र केवल रेखा-रंग की कला नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि का प्रतीकात्मक और दार्शनिक रूप है। चर-अचर, काल, लय, ताल और चेतना—सबका मूल चित्र ही माना गया है। ब्रह्मदृष्टि से संसार स्वयं ब्रह्म का चित्र है और चित्र संसार का सूक्ष्म, चेतन रूप है। शास्त्रीय दृष्टि से चित्र की अवधारणा मूर्ति, अर्धचित्र और चित्राभास के रूप में स्पष्ट की गई है। इस प्रकार चित्र दर्शन, सौन्दर्य और शिल्प—तीनों का समन्वित स्वरूप है।

☆☆☆